

भारत का लोकतांत्रिक दर्शन : एक अवधारणात्मक विवेचन

डॉ० प्रतिमा गोंड*

अरस्तु के समय से लेकर वर्तमान तक शासन व्यवस्था के तीन स्वरूप रहे हैं— राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र प्रारम्भ में राजतंत्र या कुलीनतंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी। परन्तु कालान्तर में सभ्यता के विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों की अनवरत प्रक्रिया के दौर में विचारकों द्वारा यह प्रस्तावित किया गया कि ये शासन प्रणाली जनसाधारण के हित में कार्य न करके एक वर्ग विशेष का ध्यान रखते हैं।

इस प्रकार एक व्यवस्था की कमियों को इंगित करते हुए परिवर्तन के रूप में लोकतंत्र का उदय हुआ। लोकतंत्र डेमोक्रेसी शब्द का रूपान्तर है। डेमोक्रेसी शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्द "डेमोस" तथा "क्रेटिक" से मिलकर हुयी है। "डेमोस" का अर्थ है "शक्ति" तथा "क्रेटिक" का अर्थ है "जनता"। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ के अनुसार "डेमोक्रेसी" अथवा लोकतंत्र का अर्थ है— जनता के हाथ में शक्ति। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने लोकतंत्र का परिभाषित करते हुए लिखा है कि "लोकतंत्र जनता का जनता द्वारा जनता के लिए शासन है।" ध्यान देने की बात है कि जनतंत्र की समूल स्थापना तब तक अधूरा व असम्भ है जब तक जनता की उसमें पूरी तरह से सहभागिता न हो। प्रत्येक राज्य चाहे वह उदारवादी हो या समाजवादी या फिर साम्यवादी, यहाँ तक कि सेना के जनरल द्वारा शासित पाकिस्तान का अधिनायकवादी भी अपने को लोकतांत्रिक रहता है। सच पूछा जाये तो आज के युग में लोकतंत्र होने का दावा करना फैशन सा हो गया है।

लोकतंत्र की पूर्णतः सही और सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है। क्रैन्स्टन ने ठीक ही कहा है कि लोकतंत्र के सम्बन्ध में अलग-अलग धारणाएँ हैं। लिणसेट की परिभाषा अधिक व्यापक प्रतीत होती है इनके अनुसार "लोकतंत्र एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली है जो पदाधिकारियों को बदल देने के नियमित संवैधानिक अवसर प्रदान करती है और एक ऐसे रचनातंत्र का प्रावधान करती है जिसके तहत जनसंख्या का एक विशाल हिस्सा राजनीतिक प्रभार प्राप्त करने के इच्छुक प्रतियोगियों में से मनोनुकूल चयन कर महत्वपूर्ण निर्णयों को प्रभावित करती है।" लोकतंत्र में जनता ही सत्ताधारी होती है, उसकी अनुमति से शासन होता है, उसकी प्रगति की शासन का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है परन्तु लोकतंत्र केवल एक विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली ही नहीं वरन् एक विशेष प्रकार के राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था, नैतिक एवं मानसिक भावना की भी अभिव्यक्ति है। लोकतंत्र जीवन का समग्र दर्शन है जिसकी व्यापक परिधि में मानव के सभी पहलू आ जाते हैं। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा सम्पूर्ण जनता के हित को ध्यान में रखकर शासन करती है। लोकतंत्र केवल राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति ही नहीं बल्कि शासन और जीवन की लोकजयी धारणा है। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था, व्यष्टिवाद से समष्टिवाद की ओर अग्रसर होती है इसलिए लोकतंत्र में व्यक्ति का महत्व सर्वोपरि है। एक लोकतांत्रिक राष्ट्र को आरोही क्रम में इस प्रकार देखा जा सकता है — व्यक्ति, परिवार, समाज, प्रदेश और अंततः राष्ट्र। वह तो एक विकासशील दर्शन है और जीने की गतिशील पद्धति थी। लोकतंत्र जनता द्वारा जनता का शासन है अर्थात् जिस व्यवस्था की चर्चा हो रही है। उसमें जीने वाले व्यक्ति स्वयं पर शासन चलाते हैं अतः जनता अपनी पसन्द के प्रतिनिधि को चुनती है और एक निश्चित अवधि के लिए उसे शासक बना देती है। प्रजातंत्र, जनतंत्र, लोकतंत्र तीनों शब्दों का अर्थ है, जनता का राज्य। प्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता स्वयं शासन सूत्र धारण करती है। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता की इच्छा के अनुकूल चुने यूनानी विचारक अरस्तु के अनुसार प्रजातंत्र के तीन लक्षण है। प्रथम— यह बहुसंख्यक गरीबों का राज्य है। द्वितीय इसमें स्वतन्त्रता

* असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

रहती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्य अपनी इच्छा और विवेक के अनुसार अपने जीवन का निर्धारण कर सके। तृतीय, उसमें समानता रहती है। समानता का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को हर क्षेत्र में अवसर की समानता रहे।

आधुनिक प्रजातन्त्र का विकास इंग्लैण्ड में हुआ तथा फ्रांस की राज्य क्रान्ति से प्रजातन्त्र का सन्देश बहुत स्थानों पर फैला। इंग्लैण्ड में 1832, 1867, 1884 और फिर 1918 में वोट देने के अधिकार को अधिक से अधिक जनता को देने का सफल प्रयास हुआ। इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में प्रजातन्त्र का पूरा विकास हुआ है। उत्तरी यूरोप के देशों में भी प्रजातन्त्र सफल हुआ है। बीसवीं सदी में अन्य देशों ने भी इस शासन प्रणाली को अपनाएने का प्रयत्न किया है। भारतवर्ष ने भी इसी शासन प्रणाली को चुना है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारतीय लोकतंत्र के आदर्श-दर्शन का निरूपण किया गया है। इसकी मुख्य धारणाएँ हैं— स्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व। शुद्ध नैतिक अर्थ में लोकतंत्र साधारण जन-कल्याण के आदर्श को लेकर चलता है, और साधारण जन का अर्थ है— सड़क तथा खेत पर काम करने वाले व्यक्ति तथा अन्य दलित व उपेक्षित लोग।¹ गाँधी जी ने लोकतंत्र के इस मानवतावादी पक्ष पर अत्यधिक बल दिया था। यह सत्य है कि बीसवीं शताब्दी के विशाल राज्यों में लोकतन्त्रीय शासन का अर्थ शाब्दिक अर्थ में "जनता द्वारा" शासन नहीं हो सकता है। फिर भी आवश्यक है कि वह जनता के विशाल वर्गों की आधारभूत सम्मति और सामान्य आकांक्षाओं पर आधारित हो। लोकतंत्र तभी सच्चा माना जा सकता है जब उसमें तीन चीजें विद्यमान हो—

1. दबाव, धमकी, आतंक और हिंसा के स्थान पर विवाद, वार्ता, विवेचना और समझाने-बुझाने की बौद्धिक क्रियाविधि का प्रयोग।
2. काण्ट की इस धारणा में विश्वास और उसी के अनुसार कर्म में मनुष्य साध्य है, साधन नहीं और इसके फलस्वरूप सब नागरिकों को राजनीतिक निर्णय में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेने को स्वीकार करना।
3. व्यक्तिगत स्वतंत्रता को साक्षात्कृत करने के लिए कुछ संस्थात्मक तरीकों का प्रयोग करना। उदाहरण के लिए मूल अधिकारों को लागू करने का उपाय, न्यायिक स्वतंत्रता, विधायी तथा प्रशासकीय कार्यों की न्यायिक पुनर्परीक्षा, स्वतंत्र चुनाव इत्यादि। बल और आतंक के स्थान पर बौद्धिक विचार-विनिमय के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ है— विधिपरक के व्यवस्था में विश्वास करना क्योंकि विधि शक्ति की तुलना में अधिक पवित्र चीज है। व्यक्ति के अधिकारों की प्रतिष्ठा करने की इच्छा के मूल में यह धारणा निहित है कि मानव प्राणी का व्यक्तित्व तत्त्वतः नैतिक और आध्यात्मिक है।

यद्यपि उस समय भारत की जनता निरक्षर तथा अर्थतन्त्र अर्द्धविकसित थी फिर भी संविधान सभा ने जानबूझकर लोकतंत्र की स्थापना का निर्णय किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत तक भारत ने न सिर्फ सफलतापूर्वक लोकतांत्रिक व्यवस्था को बनाये रखा है बल्कि इसके प्रचार प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का गौरव प्राप्त है और भारत ने इस गौरव को बखूबी बनाये रखा है। यह अपने आप में एक महान उपलब्धि है।²

प्रजातंत्र की अनेक विशेषताएँ हैं और इसी कारण आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने इसका समर्थन भी किया है। शासन करने का अधिकार सहमति या अनुबन्धजनित सहमति पर आधारित हो ऐसा लॉक और रूसो का विचार था। अन्यों पर शासन शासित की इच्छा से ही हो सकता है। प्रजातंत्र को समर्थित करने की पहली युक्ति यह है कि यदि मनुष्य अपना शासन स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा न करे या कराये तो उसके राजनैतिक व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। दूसरी युक्ति प्रजातंत्र के पक्ष में है कि जनता के भीतर कुछ छिपी हुयी किन्तु महत्वपूर्ण बौद्धिक शक्ति है। उस शक्ति को जगाने से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हो सकते हैं। उपयोगितावादियों ने एक तीसरी युक्ति भी दी है। उसके अनुसार अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख प्रजातंत्र के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसी शासन प्रणाली के द्वारा ऐसे नियम व विधान बनाये जा सकते हैं जिनसे सामाजिक सुख की पूरी वृद्धि

हो। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि प्रजातन्त्र का फल अच्छा रहा है। जनता के अन्तर इसके कारण एक अद्भुत आत्मविश्वासोत्पादिनी चेतना का विकास हुआ है, शिक्षा और सभ्यता का प्रसार हुआ है। तथा मानव संस्कृति के अच्छे अंशों को जनता तक ले जाने का प्रयास किया गया है। जो अन्य शासनतंत्र में सम्भव नहीं था। साधारण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में प्रजातंत्र का बड़ा हाथ है और इसी कारण साधारण व्यक्ति का जो सम्मान लोकतांत्रिक व्यवस्था में है और किसी तन्त्र में नहीं।³

राजनैतिक, सामाजिक और बौद्धिक दृष्टि से जो मनुष्य को अधिकार है वे प्रायः सत्तरहवीं शताब्दी से ही पश्चिमी यूरोप और फिर अमेरिका में अनेक संघर्षों के बाद स्वीकृत हुये हैं। वाणी की स्वतन्त्रता, धर्म मानने और प्रचारित करने की स्वतंत्रता, सम्पत्ति को प्राप्त करने और भोग करने की स्वतंत्रता, दल और समुदाय बनाने की स्वतंत्रता, राजनैतिक कार्यों में भाग लेने की स्वतंत्रता ये भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वतंत्रतायें प्रायः समस्त देशों में सिद्धान्ततः स्वीकृत हैं। समाजवाद के आन्दोलन के बाद और 1929-32 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के बाद ऐसा विचार उपस्थित किया गया है कि उपरोक्त वर्णित अधिकारों व स्वतंत्रताओं को व्यवहारिक बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को कार्य देना होगा। जब तक वह बेकार है सारे अधिकार उसके लिए शब्दजाल है। अतएव विश्व-अधिकार उद्घोषणा में बेकारी से सुरक्षित होना, उपयोगी कार्यपाना, सामाजिक सुरक्षा, वृद्धावस्था तथा बीमारी से सुरक्षा, अवकाश का उचित उपयोग करना, ये मानव के अधिकार माने गये हैं। अपने प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करना और समाज की सांस्कृतिक धारा में भाग लेना भी मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। यद्यपि इन अधिकारों का अभी कानूनी प्रभाव नहीं है तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अनेक अवसरों पर इनका उल्लेख किया है। इस प्रकार की उद्घोषणा मानव-स्वतंत्रता के इतिहास में बेजोड़ घटना है। किन्तु इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि ये मानव अधिकार कुछ विशिष्ट सामाजिक और नैतिक कर्तव्यों की सिद्धि के लिये हैं। जबकि वास्तव में अधिकारों का अपने आप में कोई खास महत्व नहीं है। गांधी जी ने कहा था कि कर्मयोग में लीन रहने का अधिकार ही मानव का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है।⁴

हमारा युग मूल्यों की क्रान्ति का युग है। वर्तमान काल में जो बौद्धिक और नैतिक विघटन बढ़ रहा है उसका मुख्य कारण बौद्धिक क्षेत्रों में व्याप्त सन्देह, अनास्था और निराशा का वातावरण है। मनुष्य उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों का जिनका उसे सामना करना पड़ रहा है, समुचित ढंग से नियन्त्रण और संचालन नहीं कर पा रहा है। परिणामस्वरूप उसे भयंकर कष्ट और यातनायें भोगनी पड़ रही हैं। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का प्रबल आशावाद कुण्ठित हो रहा है और उसके स्थान पर अन्तर्मुखी स्वार्थवाद और निराशा का दृष्टिकोण पनप रहा है। भारत में इसके अतिरिक्त हमें पूर्व तथा पश्चिम के राजनैतिक मूल्यों के समन्वय की समस्या का भी सामना करना पड़ रहा है। विश्व की वर्तमान संकट विविध शक्तियों की जटिल परस्पर क्रिया और अन्तर्व्यापन का परिणाम है। आर्थिक असामंजस्य तथा अभिनवीकरण का अभाव, बहुसंख्यक वर्गों तथा औपनिवेशित जातियों की न्यायोचित राजनीतिक आकांक्षाओं का दमन, सामाजिक वर्ग भेद के अवशेषों का विद्यमान होना, सामाजिक उत्पीड़न तथा नैतिक मूल्यों के शाश्वत महत्व के अनास्था आदि इस युग की मुख्य शक्तियाँ हैं। ऐसे समय में राजनैतिक दर्शन का काम सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं के समाधान का नया मार्ग ढूँढ निकालना है।⁵

आज विश्व में विविध विचारधारायें हैं। कुछ प्लेटों से प्रेरणा लेती हैं, कुछ बाइबिल, कुछ हीगल, कुछ मार्क्स तथा कुछ गाँधी से। किसी लेखक, विचार सम्प्रदाय की महानता उसकी वैज्ञानिक परिशुद्धता पर निर्भर नहीं होती। यदि हम हिगेलवाद, मार्क्सवाद तथा आधुनिक भारतीय प्रत्ययवाद का आधुनिक ज्ञान की दृष्टि से परीक्षण करें तो हमें अनमं अनेक कमियाँ दिखायी देंगी किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उन्हें दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र में मानव की बौद्धिक प्रतिभा का महान कीर्तिस्तम्भ नहीं मानते। कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि कोई सिद्धान्त पूर्ण नहीं है। मानव ज्ञान शनैःशनैः प्रगति करता है और कोई भी विचारक यह दावा नहीं कर सकता है कि उसका पूर्ण तथा अविकल सत्य पर एकाधिकार है। भारत में लोकतांत्रिक दर्शन को एक ऐसा नैतिक दर्शन बनने की आशा रखनी चाहिए जो राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समाज के बुनियादों की रक्षा कर सके। इसे कॉम्ट तथा गांधी का अनुसरण करते हुये नैतिक तत्व की सर्वोच्चता पर बल देना चाहिए। इस का निर्देशक सिद्धान्त परोपकारमय जीवन के तत्वों को उत्तरोत्तर साक्षात्कृत करना होना चाहिए। व्यवहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का लोकतांत्रिक चिन्तन

अनिवार्यतः सामाजिक साधनों के अधिक सन्तुलित तथा समतामूलक वितरण का समर्थन करेगा और इन सब उपायों का संवर्धन करेगा जिनका उद्देश्य मानव एकता के आदर्श को संस्थात्मक रूप देना है।

यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता एक अलंघनीय पवित्र अधिकार है जो हीगल के राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि मान लिया जाये कि समूह अथवा राष्ट्र का अपना रहस्यात्मक तथा असाधारण व्यक्तित्व होता है। और वह उसके सदस्यों के व्यक्तित्व से उत्कृष्ट होता है तो हमें हीगल के सिद्धान्तों को कुछ मान्यता देनी होगी। यद्यपि फासीवादियों का राज्य को सर्वशक्तिमान और सर्वोपरि बनाने का प्रयत्न विफल हो चुका है फिर भी कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीय राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन किया जा रहा है। लेनिन ने मार्क्सवादी इन्द्रवाद की जो व्यवस्था की है उसके अनुसार स्वतंत्रता के राज्यविहीन सतयुग के आगमन से पहले संक्रमण की अवस्था में राजकीय शक्ति का प्रबल केन्द्रीकरण आवश्यक है। पूर्व के नवोदित राष्ट्रों में अभी राष्ट्रवाद को प्रबल भूमिका अदा करनी है। इन देशों में स्वतंत्रता तथा न्याय के स्वपन को साकार करने के लिए शक्ति को राज्य के हाथों में केन्द्रित करने की आवश्यकता है। इससे राज्य के निरंकुशवाद के दर्शन को कुछ समय के लिए नवजीवन प्राप्त हो सकता है। फिर भी विश्व शांति तथा विश्व संस्कृति के सन्देशवाहक राष्ट्रीय राज्य से बड़ी राजनीतिक इकाई की कल्पना करते हैं और इसलिए आशा की जाती है कि हीगल का राज्य को साध्य मानने वाला विचार एक अतीत की वस्तु बन जायेगा। अतः इस बात की अपेक्षा है कि अन्तराष्ट्रवाद, विश्व-राज्यवाद तथा मानव एकता के आदर्शों की प्रगति के साथ-साथ राज्य की प्रत्ययवादी धारणा पुरानी पड़ जायेगी। गाँधी जी का आधारभूत चिन्तन कभी भी संकीर्ण राष्ट्रवाद से प्रभावित नहीं था। उसकी मूलप्रवृत्ति सदैव ही विश्वराज्यवादी थी। गाँधी जी ने मानव एकता पर जो बल दिया वह लोकतांत्रिक चिन्तन तथा व्यवहार दोनों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।⁶

स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे अधिक प्रिय व मूल्यवाद विरासत है। वह उसका एक मुख्य लक्ष्य भी है। मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है और समाज में अपनी संस्थात्मक व्यवस्था के द्वारा उसके विकास के लिए प्रेरणा तथा सुविधायें प्रदान करता है। किन्तु समाज की विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत स्वतंत्रता के साक्षात्करण की सारी सम्भावनायें समाप्त नहीं हो जाती परन्तु कुछ सीमायें समाज के लाभ की दृष्टि से अवश्य रखी जाती हैं। स्वतंत्रता को हम कई अर्थों में समझ सकते हैं। प्रथम तो स्वतंत्रता का अर्थ है-मनुष्य की सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक बनना स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एकीकरण करे। इस सीमा तक स्वतंत्रता का अर्थ है समाज की शक्तियों तथा परम्पराओं में साझेदारी और उनके द्वारा सीमित होना मानव वर्ग को हम समझना होगा कि हम सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी हैं।⁷ आधुनिक लोकतंत्र व्यक्ति के राजनैतिक तथा नागरिक अधिकारों का समर्थन करता है, यह उचित भी है। मार्क्सवाद समाज को युक्तिसंगत बनाने का तथा उपभोग वस्तुओं के बाहुल्य का समर्थन करता है। यह चाहता है कि उत्पादक स्वतंत्रता तथा समानता के आधार पर संगठित हो। किन्तु वह मनुष्य के अधिकारों को समुचित महत्व देने में विफल रहा है। दूसरे, स्वतंत्रता विकास की प्रक्रिया है। इसका अर्थ है मनुष्य की शक्ति तथा क्षमता का विकास जिससे वह अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति का आन्तरिक रूप से साक्षात्कार कर सके। नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति राज्य तथा समाज की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। यह नैतिक शुद्धता पर अधिक बल देता है। इसमें शांति, स्वतंत्रता, ज्ञान तथा आनन्द उपलब्ध होता है। गाँधीजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक, आधारों पर और राजनैतिक क्रियाकलाप के नैतिक आधारों पर बल दिया और यही उचित था। हीगल तथा मार्क्स दोनों स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को आवश्यकता के जगत से निकलकर स्वतंत्रता की दुनिया में पहुँचने से पहले एक संक्रमण की अवस्था से होकर गुजरना पड़ता है। किन्तु इस संक्रमण की पद्धति के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद है। हीगल दार्शनिक ज्ञान को और मार्क्स क्रांति को संक्रमण का साधन मानते हैं। वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति हमें मानव की नैतिक स्वतंत्रता को स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा एक समग्रवादी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के उदय का भय हो सकता है। ऐसा समग्रवादी व्यवस्था बुद्धिसंगत भले ही हो किन्तु वह मनुष्य की स्वतंत्रता को अवश्य ही समाप्त कर देगी। आधुनिक भारत में स्वतंत्रता के एक पूर्व दर्शन की प्राप्ति के लिए तीन महत्वपूर्ण चिन्तनधाराओं का समन्वय किया जाना चाहिए- गाँधी जी की नैतिक स्वतंत्रता की धारणा, मार्क्स की उस स्वतंत्रता की धारणा जो प्रकृति के बौद्धिक और वैज्ञानिक

नियन्त्रण से उपलब्ध होती है। और व्यक्तिक स्वतंत्रता की आंग्ल, अमरीयी धारणा जिसका निरूपण मिल्टन, लॉक, जैफर्सन और मिल ने किया है।

यूरोप के अनेक देशों में जिस फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रवाद का उदय हुआ है उससे हमें महत्वपूर्ण तथ्य समझने में आसानी होती है। वेदान्त ने जो कि प्राचीन भारतीय संस्कृति या आधार है, आध्यात्मिक व्यक्ति के परलौकिक महत्व पर बल दिया है। उनके अनुसार सभी मनुष्य अपने अन्तरतम जीवन में परम आध्यात्मिक सत्ता ही है। किन्तु अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान भारतीय संस्कृति ने स्थूल व्यक्तियों की समानता का समर्थन किया है। क्योंकि अधिकारवाद के दार्शनिक सिद्धान्त ने और जाति व्यवस्था की कठोर सत्तावादी प्रवृत्ति ने व्यवहार में असमानता के सिद्धान्त का पोषण किया है। लोकतंत्र मनुष्यों को अपनी राजनीतिक इच्छा तथा निर्णय का प्रयोग करने का अवसर देकर उनके व्यक्तिगत का उत्थान करना चाहता है। भारतीय लोकतंत्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जिनके पास अपनी श्रंखलाओं के अतिरिक्त खोने को कुछ नहीं है। ऐसे लोगों को समग्रवाद अच्छा लग सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रूप में नाशावाद की जो लहर आयी उसका अनुभव हमें सिखाता है कि आर्थिक सुरक्षा का अभाव मनुष्यों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है कि वे उग्र से उग्र परिवर्तन को स्वीकार करने को उद्यत हो सकते हैं चाहे यह परिवर्तन मात्र परिवर्तन के लिए ही हो। अतः हम देखते हैं कि हमारे लोकतंत्र में अनेक गम्भीर दोष हैं। यदि हम गम्भीर दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर हमने जनता के आध्यात्मिक लोकतंत्र को विकसित और साक्षात्कृत करने का अतिमानवीय प्रयत्न न किया तो मुझे सांस्कृतिक विनाश, भौतिक अराजकता तथा राजनीतिक अधिनायकतन्त्र का खतरा निकट दिखायी देता है। हमारे सामने विवेकपूर्ण आध्यात्मिक लोकतान्त्रिक दर्शन का निर्माण तथा साक्षात्कार करने की समस्या विद्यमान है जिसका समाधान करना नितान्त अवश्यक है।⁸

एक ओर तो हमें राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के आदर्शों को महत्व देना है। उनके साथ ही गाँधीजी की आचारनीतिक परम्पराओं को संयोग करना है। यह आवश्यक है कि राजनैतिक लोकतंत्र की समाजवादी नियोजन तथा गाँधीवादी नैतिक पुनरुत्थान के द्वारा अनुपूर्ति की जाये। लोकतंत्र में शक्ति तथा लिप्सा का स्वभाविक पुट विद्यमान रहता है। इसलिए हमें लोकतांत्रिक व्यवस्था को नैतिक तथा आध्यात्मिक दिशा में उन्मुख करने पर पुनः बल देना है। यह सत्य है कि ऐसा करने पर पिष्टपेषण करने वाला तथा कल्पनाविहारी होने का आरोप सहना पड़ेगा, किन्तु हमें इस विषय में बहुत चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक कोई भी ऐसा सामाजिक अथवा राजनीतिक उपाय नहीं दिखायी देता जिससे ऐसे नागरिक उत्पन्न किये जा सकें जिनसे कम से कम न्यूनतम अंश में नैतिक आचरण की आशा की जा सके और जो मुयुत्सा, बर्बरता और आपराधिक प्रवृत्तियों से मुक्त हो। राज्य साक्षात्कृत नैतिक सार नहीं है जैसा कि हीगल का मत है किन्तु वह नैतिक नागरिकों के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। भारतवर्ष की ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुए इस तथ्य पर बल देने की आवश्यकता है कि लोकतंत्र के मूल्यात्मक आधारों की सुरक्षा के लिए गाँधीजी को नैतिक शिक्षाओं का अनुसरण करना चाहिए किन्तु नैतिक पुनरुत्थान का यह कार्य समाज को करना चाहिए न कि राज्य को। लोकतांत्रिक राज्य में राजनैतिक कार्य तथा निर्णय के बहुत केन्द्र होते हैं इसलिए यह आवश्यक है कि जिन लोगों को भिन्न स्तरों पर निर्णायक भूमिका अदा करनी पड़ती है उनको नैतिक चरित्र उच्च कोटि का हो। निर्जीव मार्क्सवादी समाजवाद इस देश में सफल नहीं हो सकता। उस प्रकार का समाजवाद पाश्चात्य पूँजीवाद के सभी दोषों की पुनरावृत्ति करेगा। कोरा लोकतंत्र अधूरा है, कोरी आचारनीति सामाजिक दृष्टि से शक्तिहीन होती है। और जर्मन समाजवाद तथा ब्रिटिश मजदूर दल के ढंग की समाजवादी लोकतान्त्रिक राजनीति में पर्याप्त नैतिक गति नहीं होती। इसलिए अधिनायकवादी तानाशाहीपोषक समग्रवाद के दोषों से बचने के लिए लोकतंत्र समाजवाद तथा गाँधीवाद के समन्वय की आवश्यकता है। यदि लोकतंत्र में आर्थिक न्याय तथा गाँधीवादी आचारनीति का पुट जोड़ दिया जाये तो उससे भारत तथा विश्व की कुछ तत्कालीक समस्याओं का समाधान हो सकेगा।

लोकतंत्र की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इसमें जनता की कितनी भागीदारी है। इसके अलावा जनता में राजनैतिक चेतना का होना भी लोकतंत्र की सफलता के लिए

आवश्यक है। शिक्षा का प्रसार होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेस को भी प्रजातंत्र की रीढ़ माना जाता है। भारत में प्रेस संचार माध्यमों तथा समाचार पत्रों आदि की स्वतंत्रता इस बात की गारंटी है कि हमारे यहाँ लोकतांत्रिक मूल्यों को कितना महत्व प्राप्त है। लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली का सार लोक कल्याण की अभिवृद्धि व जनता के हितों एवं अधिकारों की रक्षा करना है। भारत के संविधान में भारत को एक प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र के रूप में इंगित किया गया है। संविधान की प्रस्तावना के अनुसार भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, समाजवादी, धर्म निरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के आदर्श के रूप में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक उन्नयन व सामूहिक विकास के लिए सभी नागरिकों में आपसी भाईचारा, सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता एवं सभी व्यक्तियों की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता कायम रखने का सम्पूर्ण भारतवासियों द्वारा संकल्प लिया गया है जिनकी पूर्ति हेतु नीति-निदेशक तत्वों का अस्तित्व एक सराहनीय प्रयास है।

आज के लोकतांत्रिक युग में आवश्यकता है एक ऐसी स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की हो समानता पर आधारित हो। जहाँ मानव द्वारा मानव का शोषण न हो। स्त्री एवं पुरुष एक दूसरे को सम्मान की दृष्टि से देखे न कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में। दोनों ही पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार की भावना से ऊपर उठकर पारस्परिक सहयोग, परिप्रय एवं संगठन शक्ति का उपयोग कर राष्ट्र के विकास में अपना पूर्ण योगदान दें। समाज का कोई भी वर्ग किसी भी वर्ग के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रसित न हों ताकि किसी के भी व्यक्तित्व के विकास में किसी भी प्रकार की बाधा न पड़ सके। संयुक्त परिवार, जो भारतीय समाज की महत्वपूर्ण इकाई है के सभी सदस्य एक आदर्श परिवार के सदस्य के रूप में परिवार के सभी सदस्यों चाहे स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या बालिका, बेटा हो या बहू सभी के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए अपना महत्वपूर्ण योगदान दे जिससे परिवार, समाज एवं राष्ट्र का विकास हो सके। अतः यदि भारत में विकास की प्रक्रिया को गति देना है तो प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था को मजबूती एवं ईमानदारी के साथ लागू करना होगा अन्यथा भारत गरीब देशों की श्रेणी में ही बना रहेगा क्योंकि इसकी बढ़ती जनसंख्या विकास की गलत नीतियों, समाज में फैले भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, निर्धनता इसके वास्तविक विकास को अवरुद्ध कर देंगे जिससे भारत वर्ष सर्वदा ही पिछड़े देशों की सूची में रहेगा।

सन्दर्भ सूची-

1. मेहता, अशोक : स्टडीज इन एशियन, सोशलिज्म, भारतीय विद्या भवन पब्लिकेशन, बम्बई, 1959
2. त्रिपाठी, डॉ० ममतामणि : भारत की लोकतांत्रिक यात्रा एवं चुनाव, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2012, पृ० 310
3. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : कल्चर एण्ड डेमोक्रेसी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 1970
4. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2006, पृ० सं० 736
5. कश्यप, सुभाष : हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, ए ग्रीन पार्क, नई दिल्ली
6. गावा, ओमप्रकाश : राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मुख्य शिक्षा परिषद्, दिल्ली
7. पाण्डेय, प्रेम नारायण : ग्रामीण विकास तथा संरचनात्मक परिवर्तन, राव पब्लिकेशन, राजस्थान, 2004
8. भारद्वाज, आर०के० : डेमोक्रेसी इन इण्डिया, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली